© 2014 IJSRSET | Volume 1 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology
doi : https://doi.org/10.32628/IJSRSET

काव्यशास्त्र में रस तत्त्व विमर्श

सुनीता देवी
असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत), बुद्ध विद्यापीठ महाविद्यालय, सिद्धार्थनगर, उत्तर प्रदेश।

रस शब्द का अर्थ– चुरादिगण की आस्वाद्गर्थक रस धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर 'रस' शब्द बना है। **'रस्यते आस्वाद्यते'** यह इसकी निरुक्ति है– अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाय, वह रस है। 'रसतीति रसाः (जो आस्वादन प्रदान करें) यह भी निरुक्ति स्वीकार की गयी है। इस प्रकार आस्वादन की क्रिया का विषय रस है। इस दृष्टि से स्थूल जगत् के समस्त भोग्य विषयों को पाँच श्रेणियों में रखा गया है– उनमें से रस एक है।

अमरकोष में कहा गया है–

रूपं शब्दों गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी।
गोचरा इन्द्रियार्थाश्च।[i]

मेदिनकोष में रस के निम्नलिखित अर्थ बताये गये हैं– गन्ध, जल, शृङ्गार, आदिरस, विष, वीर्य, त्रिक्त, आदि जिह्वा से आदि से आस्वाद रस द्रव है। अमरकोष में पारद तथा शृङ्गार आदि विष, वीर्य, गुण राग और द्रव इन अर्थों में भी 'रस' शब्द को स्वीकार किया गया है।[ii]

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच विषय आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन पांच महाभूतों से सम्बद्ध है। रस का सम्बन्ध जल से है, अतः जल के अर्थ में रस का उपचरित प्रयोग किया गया है।

ताण्डयब्राह्मण में औषधियों के सार के अर्थ में 'रस' व्यवहृत है।[iii]

अर्थशास्त्र में 'रस' शब्द का प्रयोग 'विष' के अर्थ में हुआ है तथा मदनरस का मादक विषय के अर्थ में प्रयोग हुआ है। जबकि कालिदास ने वैदिक और औपनिषादक वाङ्मय की परम्परा में 'रस' शब्द को 'जल' के अर्थ में भी प्रयोग किया है–

प्रजानामेव भूव्यर्थ स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्सुष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।[iv]
तथा न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र।[v]

रस शब्द का काम या इच्छा के अर्थ में भी प्रयोग कालिदास ने किया है–

इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।[vi]

भवभूति वे 'रस' का अर्थ आनन्द प्रेम या सुख भी बताया है, इन्होंने रस शब्द का यह अर्थ अपने ग्रन्थ में उद्हृत किया है– प्रेम के कारण वृद्धावस्था में भी जीवन का रस नहीं सूखता–

जरया यस्मिन्न हार्यो रसः।[vii]

वैशेषिक दर्शन में रस 24 गुणों में से एक मानना गया है। रस बाह्येन्द्रिय ग्राह्य है तथा रसना का सहकारी है।

तर्कभाषा के अनुसार रसना (जिह्वा) से ग्राह्य गुण रस है–

रसनेन्द्रियों ग्राह्यो गुणो रसः।[viii]
'रसस्तु रसनाग्राह्यो मुधरादिरनेकधा।

सहकारीरसज्ञाया नित्यत्वादि च पूर्ववत्।।'[ix]

शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में रस की एक कोटि परानन्द मानते हुये भगवती की भक्ति करने वाले को इसके आस्वाद की प्राप्ति बतायी है–

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिंर जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यशतिकरः
परानन्दाभिख्यां रसयति रसं त्वद्भजनवान्।।[x]

चरक ने जल तथा पृथ्वी को रस का उपादान माना है–

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमाणः क्षितिस्तथा।
निवृत्तौ विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः।।[xi]

आयुर्वेद में बताया गया है कि कटु अम्ल, कषाय, तिक्त, लवण और मधुर ये छः प्रकार के रस है। ये छः प्रकार के रस पंचभूतों (आकाश–पवन– अग्नि–जल–भूमि) के अनुप्रवेश संसर्ग और प्राधान्य से बनते हैं। जैसे भूमि और जल के गुणों की प्रधानता से मधुर आदि। इनके भी परस्पर संसर्ग से छः प्रकार का रस हो जाता है।

उपनिषदों में रस को जीवन के परमतत्त्व के अर्थ में निरूपित किया गया है तथा 'आनन्द' से इसका अविभाज्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है–

रसौ वै सः। तं लब्ध्वा आनन्दीभवति।
रसौ वै आनन्दः।[xii]

रस के प्रवर्तक आचार्य भरत को माना जाता है। इनके अनुसार रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से होती है–

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।[xiii]

भावों से रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया वासुकि नामक आचार्य ने समझाई थी जिसका उल्लेख शात ने किया है–

नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्य जनं भाव्यते यथा।
एते भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह।
इति वासुकिनाव्युक्तो भावेभ्यो रससंभवः।।[xiv]

धनंजय के अनुसार रस की उत्पत्ति स्थायी भाव से होती है–

विभावैरतुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
अनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।।[xv]

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

भरतमुनि से रस के इन 8 भेदों के ये क्रमशः 8 स्थायी भाव मान्यता दिये है–

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः।।[xvi]

दशरूपककार ने भरतमुनि स्वीकृत रस के 8 भेदों तथा रस के 8 स्थायी भावों को मान्यता देते हैं। धनंजय के अनुसार यही रस के 8 भेद और स्थायीभाव है। कुछ आचार्य शम जैसे नवें स्थायी भाव और शान्त रस को भी मानते हैं किन्तु इस भाव की पुष्टि नाट्य में नहीं होती। धनंजय के अनुसार यह भाव नाट्यानुकूल नही है। शम स्थायी भाव की पुष्टि रूपकों में नहीं होती। अतः नाट्यशास्त्र की दृष्टि से रस के केवल 8 भेद ही है।

आचार्य विश्वेश्वर ने भाव को ही रस का बीज माना है। यहाँ भाव का तात्पर्य स्थायी भाव से है। स्थायी भाव सहृदय सामाजिकों में पहले से ही सुसुप्त रूप में विद्यमान रहता है जो अनुकूल उद्दीपक अनुभावक सामग्रियों को पाकर उद्दीप्त हो जाता है। स्थायी भाव जन्मजात होते हैं। ये विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से परिणति हो जाते हैं। आचार्य विश्वेश्वर ने रस की उत्पत्ति विषयक प्रक्रिया में आचार्य भरतमुनि के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[xvii]

रस शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि ने आठ प्रकार के रस माने हैं–

शृङ्गार–हास्य–करुण–रौद्र–वीर–भयानकाः।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः।।[xviii]

आचार्य विश्वेश्वर ने शृंगार–हास्य–करुण–रौद्र–वीर–भयानक–वीभत्स– अद्भुत के अतिरिक्त शान्त रस को भी स्वीकार किया है। इनके अनुसार काव्य में शान्त रस अनुभव सिद्ध है।

काव्यो शान्तोऽपि रसोऽनुभवसिद्धत्वात्। तत्र निर्वेदः स्थायिभावः।

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा।

रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।।[xix]

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार काव्यशास्त्र में शान्त रस की स्थिति स्वीकार्य है किन्तु नाट्यशास्त्र में शान्त रस की स्थिति स्वीकार्य नहीं है।

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।

अष्टावेज्ञ रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते।।[xx]

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार जब वे स्थायी भाव 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वेद वाक्य के अनुसार सत्य और विज्ञानरूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं तो वे 'रस' संज्ञा को प्राप्त कर लेते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ शृंगार–हास्य–करुण– रौद्र–वीर– भयानक–वीभत्स–अद्भुत इन 8 रसों के अतिरिक्त शृंगार रस को भी मान्यता देते हैं।[xxi]

आचार्य विश्वेश्वर भाव को ही 'रस' का बीज माना है। यहाँ भाव से तात्पर्य स्थायी भाव से है। इन्होंने रस की उत्पत्ति विषयक प्रक्रिया में आचार्य भरतमुनि के सिद्धान्त को ही स्वीकृत किया है। विश्वेश्वर के अनुसार स्थायी भाव जन्मजात होते हैं ये कभी नष्ट नहीं होते ये विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से परिणति ये स्थायी भाव ही रसता को प्राप्त करते हैं।[xxii]

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।

एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह।।[xxiii]

आचार्य विश्वेश्वर ने भी भरतकृत मत को स्वीकार करते हुये रस तथा स्थायी भाव का साक्षात् सम्बन्ध माना है स्थायी भाव सभी भावों में प्रधान है और ये ही स्थायी भाव विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप में परिणत होते हैं।

दशरूपककार ने भी स्थायीभाव तथा रस के सम्बन्ध को स्वीकार किया है, धनंजय के अनुसार विभावादि के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस है।[xxiv]

आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में अपना मत व्यक्त किया है कि विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होकर रत्यादि स्थायी भाव सामाजिाकें के हृदय में रसता को प्राप्त करते हैं।[xxv]

अतः कहा जा सकता है कि स्थायी भाव तथा रसों में साक्षात् सम्बन्ध है रस की परिपुष्टि स्थायी भाव के द्वारा ही होती है।

रस के सहायक तत्त्व–

शारदातनय के अनुसार ''भावः स्याद्भावनं भूतिरथ भावयतीति वा'' अर्थात् अनुकार्य राम आदि के सुख–दुःख आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदयस्थ भावों के भावन को 'भाव' कहते हैं।[xxvi]

धनंजय भाव को अर्थ (स्वरूप) बतलाते हैं– **''सुखदुःज्खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।''** अर्थात् सुख–दुःख आदि भावों के द्वारा (सहृदय के चित्त को) जिनकी सहायता से रस स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, उनका तात्पर्य (अर्थ) है–

1. भाव–

नाट्य रचना में अन्तर्भूत भावों को दर्शकों को बोधगम्य कराने के लिये वाणी, अंग तथा मुखराग से जिस भाव का प्रदर्शन किया जाता है, उसे वही 'भाव' कहते हैं।

आचार्य भरतमुनि का मत है कि–

नानाभिनयसम्बद्धा भावयन्ति रसानिमान्।

यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।।[xxvii]

अर्थात् भाव भाव इसलिये कहलाते हैं कि ये नाना प्रकार के अभिनय से मिलकर रसों को भावित करते हैं। भावित कर देना भाव कहलाता है। **निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिमा** अर्थात् निर्विकारात्मक (अविकृत) मन में उद्बुद्धमात्र (स्पष्ट प्रतीत नहीं होने वाला) प्रथम विकार भाव कहलाता है।[xxviii]

इन सभी आचार्यों के मतों से स्पष्ट है कि लगभग सभी आचार्यों में भरत मुनि के इस मत को स्वीकार किया है कि रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं अथवा कवि के आन्तरिक भाव को प्रकट करने के कारण ये भाव कहलाते हैं।

विभाव–

विभाव शब्द का अर्थ है– विशिष्ट ज्ञान। भरत मुनि ने कारण, निमित्त, हेतु को विभाव का पर्याय कहा है। रसानुभूति के कारण को विभाव कहते हैं।[xxix]

दशरूपककार धनंजय के मतानुसार–

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावषोपकृत्।

आलम्बनोद्दीपत्वप्रभेदेन स च द्विधा।।[xxx]

अर्थात् उन रस के उद्भावकों में विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ होकर स्थायी भाव को पुष्ट करता है। वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है। भावकाशनकार विभाव को अर्थ स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि– ''जो पदार्थों का ज्ञान कराते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। विभाव के दो भेद है– आलम्बन तथा उद्दीपन।[गगगप]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार, **''रत्याद्युब्दोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।''** अर्थात् लोक में जो रत्यादिकों के (अनादिकालीन वासना से अन्तर्लीन रति, हास आदि स्थायी भावों के) उद्बोधक है, वे ही काव्य या नाटकों के अन्दर विभाव कहलाते हैं। इन्होंने भी विभाव के आलम्बन व उद्दीपन दो भेद माने हैं।[गगगपप]

1. आलम्बन विभाव–

जिसका आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है, उसको आलम्बन विभाव कहते हैं।

आलम्बनं नायकादिस्तभालम्ब्य रसोदगमात्।[xxxiii]

अर्थात् आलम्बन नायकादि होते हैं। क्योंकि नायक आदि का आश्रय लेकर रस का (शृङ्गारादि का) उद्गम होता है। जैसे– सीता को देखकर राम के मन में राम को देखकर सीता के मन में रति उत्पत्ति होती है और उन दोनों को सामाजिक के भीतर रस की उत्पत्ति होती है अतः सीता, रामादि (नायकादि) शृङ्गार रस के 'आलम्बन विभाव' कहलाते हैं।

उद्दीपन विभाव–

भरत मुनि के मतानुसार जिनकी सहायता से रति, हास आदि स्थायी भावों का उद्दीपन होता है, वह रस के उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।[xxxiv] साहित्यदर्पणकार उद्दीपन विभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि–

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादसस्तथा।।[xxxv]

अर्थात् वे उद्दीपन विभाव नायकादि की (नायक, नायिका, प्रतिनायक प्रभृति की) चेष्टायें आदि (नेत्रविक्षेपादि) तथा चाँदनी, उद्यान, देशकालादि होते हैं।

प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव अलग–अलग होते हैं।

स्पष्टतया कहा जा सकता है कि विभाव तथाउसके भेदों का अर्थ स्पष्ट करने में लगभग सभी विद्वानों ने भरतमुनि के मत को स्वीकार तथा अनुसरण किया है।

अनुभाव–

भरतमुनि ने अनुभाव का लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया है–

वागङ्गभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।।[xxxvi]

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव का आन्तर अभिव्यक्तिरूप अर्थ का बाह्यरूप में अनुभव कराता है, उसको 'अनुभाव' कहते हैं।

भरत–नाट्यशास्त्र के अनुसार अनुभावों का वशेष उपयोग अभिनय की दृष्टि से होता है और वे प्रत्येक रस में अलग–अलग होते हैं। वे रसानुभूति के कार्य होते हैं, इसलिये अनुभाव कहलाते हैं। अनुकार्य राम आदि की रसानुभूति का अनुभव, अनुमान सामाजिकों को कराते हैं, इसलिये अनुभाव कहलाते हैं।

साहितयदर्पणकार ने 'अनुभाव' का लक्षण इस प्रकार किया है–

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।।[xxxvii]

अर्थात् अपने–अपने कारणों से उद्बुद्ध (रामादि के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रत्यादि) स्थायी भाव को बाहर (अन्य मनुष्यों पर) प्रकाशित करता हुआ लोक में जो कार्यरूप है वह काव्य और नाटक अन्दर विद्यमान 'अनुभाव' कहा जाता है।

दशरूपककार के मतानुसार–

अनुभावो विकारास्तु भावसंसूचनात्मकः।[xxxviii]

अर्थात् रति आदि भावों को सूचित करने वाला विकार (शरीर आदि का परिवर्तन) अनुभाव है। क्योंकि ये अभिनय (दृश्य काव्य तथा काव्य (श्रव्य) में अनुभाक्ति होने वाले रसिकों को साक्षात् अनुभव के कर्म रूप में अनुभूत होते हैं, इसलिये रसिकों (सामाजिकों) में अनुभवन या अनुभाव कहलाते हैं।

अनुभाव के चार प्रकारों का निरूपण किया गया है–

1. सात्विक अनुभाव
2. कायिक अनुभाव
3. मानसिक अनुभाव
4. आहार्य अनुभाव

व्यभिचारिभाव–

व्यभिचारिभाव का अर्थ है– सहकारी तत्व।

विश्वेश्वर के मतानुसार उद्‌बुद्ध हुये स्थायी भावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारी भाव कहते हैं।

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में व्यभिचारिभाव शब्द को स्पष्ट किया है–

विविधम् आभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः।

वागङ्गसत्तोपेताः प्रयोगे रसन्नयन्तीति व्यभिचारिणः।।[xxxix]

अर्थात् जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं ओर रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। इन व्यभिचारिभावों की संख्या 33 मानी गयी है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'व्यभिचारिभाव; का अर्थ स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि–

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्वयभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयत्रिंशच्च तद्‌भिदाः।।[xl]

अर्थात् विशेष रूप से (आस्वाद की अभिव्यक्ति में) अनुकूल (सहायक) होने के कारण (रति आदि में रस रूप से) उत्पन्न होते हुये स्थायी भाव में (बुद्‌बुद की तरह) आविर्भूत होने वाले तिरोभूत होने वाले जो धर्म हैं वे व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं। उन व्यभिचारिभावों के भेद 33 होते हैं।

दशरूपककार के मतानुसार–

विशेषादाभिमुख्येन चरन्ती व्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।।[xli]

विविध प्रकार से स्थायी भाव के अभिमुख चलने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं; जो स्थायी भाव में इस प्रकार प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं, जिस प्रकार सागर में तरङ्गे। इन्होंने भी व्यभिचारी भाव के 33 भेद माने हैं।

व्यभिचारिभाव के भेद– सभी विद्वानों ने सर्वसम्मत से व्यभिचारी भाव के 33 भेद माने हैं। ये व्यभिचारि स्थायी भाव को विशेष रूपसे गत्यात्मकता प्रदान करके उसे रस दशा तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होते हैं। नाट्यशास्त्र में वर्णित स्थायीभाव को सर्वसम्मत से स्वीकार करते हुये विश्वनाथ, विश्वेश्वर, शारदातनय, धनंजय आदि विद्वानों ने अपने मतानुसार स्थायी भाव का स्पष्ट अर्थ प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

i अमरकोष, 1.5.7
ii अमरकोष (2.99)
iii न्यायकोष, पृ0 686
iv रघुवंशमहाकाव्यम्, 1.19
v कुमारसम्भवम्, 1.7
vi मेघदूतम्
vii उत्तररामचरितम्, अंक 3
viii तर्कभाषा
ix साहित्यदर्पण
x सौन्दर्यलहरी, पृ0 86–88
xi चरक सूत्रस्थान, 64
xii तैत्ति0उप0 2.6.1
xiii नाट्यशास्त्र
xiv भावप्रकाश अधिकरण 2, पृ0 36–37
xv दशरूपक, 4.1, पृ0 257
xvi नाट्यशास्त्र, 6.16
xvii रसचन्द्रिका, पृ0 48–49
xviii नाट्यशास्त्र 6.15
xix रसचन्द्रिका, पृ0 66

[xx] रसचन्द्रिका, पृ0 67
[xxi] रसगंगाधर
[xxii] रसचन्द्रिका, पृ0 48
[xxiii] रसचन्द्रिका, पृ0 48
[xxiv] दशरूपक, 4.1, पृ0 257
[xxv] साहित्यदर्पण, 3.1, पृ0 67
[xxvi] भावप्रकाशनम् (1.12)
[xxvii] नाट्यशास्त्र, 6.33
[xxviii] साहित्यदर्पण, 3.93
[xxix] नाट्यशास्त्र
[xxx] दशरूपक, 4.2
[xxxi] भावप्रकाशनम्, 1.13
[xxxii] साहित्यदर्पण, 3.28–29
[xxxiii] साहित्यदर्पण, 3.29
[xxxiv] नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय
[xxxv] साहित्यदर्पण, 3.131
[xxxvi] नाट्यशास्त्र, 7.5
[xxxvii] साहित्यदर्पण, 3.132
[xxxviii] दशरूपक, 4.31
[xxxix] नाट्यशास्त्र, 7.6
[xl] साहित्यदर्पण, 3.14
[xli] दशरूपक, 4.7